

भारतीय धर्मशास्त्र के परिप्रेक्ष्य में नारी

डॉ० रेनु यादव

संस्कृत विभाग, एम०जी०पी०जी० कॉलेज, फिरोजाबाद, उत्तर प्रदेश, भारत।

प्रस्तावना

भारतीय धर्मशास्त्र मानव जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में प्रेरणा स्रोत है, 'धर्मो धारयते प्रजा' अर्थात् धर्म मनुष्य को विवेक देने वाला है, इस धर्म से पितृसत्तात्मक समाज ने प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक की स्त्रियों के प्रति किस प्रकार का विवेक ग्रहण किया ? इस प्रश्न के निवारणार्थ धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों का अवलोकन आवश्यक हो जाता है, सृष्टि की प्रक्रिया में विद्वान चाहे अर्धनारीश्वर की कल्पना करे या प्रकृति पुरुष की सभी ने पुरुष के समकक्ष ही स्त्री की प्रधानता स्वीकार की है, परन्तु सहगामिनी होते हुए भी जब अधिकार, स्वतन्त्रता आदि की बात आती है, तो पुरुष से पिछड़ जाती है, क्यों ? विचार करें तो वैदिक काल से वर्तमानकालीन समाज का पितृसत्तात्मक समाज मुख्य रूप से स्त्रियों की इस स्थिति का कारण माना जा सकता है, यद्यपि पितृसत्तात्मक समाज प्रारम्भिक युग से ही था परन्तु पितृसत्तात्मक सिद्धान्त का प्रतिपादन सर्वप्रथम एरिस्टॉटल (अरस्तु) ने किया था। इनके अनुसार समाज का पहला समूह कुटुम्ब था। इस सामाजिक संगठन 'कुटुम्ब' में पिता ही पूर्णरूपेण प्रधान होता था जो परिवार के सभी सदस्यों के आर्थिक धार्मिकादि कृत्यों पर नियंत्रण रखता था। इन ग्रन्थों के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल के पश्चात् पुरुषों को जितनी अधिक स्वतन्त्रता मिली, स्त्रियों को उतनी ही अधिक परतन्त्रता की सीमा में बाँध दिया गया, जिससे समाज के राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक सभी क्षेत्रों में इनका हास हुआ। इन भारतीय धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में जो उक्त है, उनके सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि कुछ नियम केवल आदर्श रूप रहने वाले तथा कुछ तत्कालीन सामाजिक स्त्रियों की स्थितियों में आलोक कहे गये हैं, इन ग्रन्थों से स्त्रियों की शिक्षा, स्वतन्त्रता, वैवाहिक अवस्था, अधिकार प्रतिष्ठा आदि की स्थिति स्पष्ट हो जाती है। यहाँ कुछ भारतीय धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों के आलोक में स्त्रियों की स्थिति (पक्ष और विपक्ष) दोनों ही स्थितियों पर दृष्टि डाली जा रही है -

अधिकार

अधिकार शब्द अपने आप में बहुत व्यापक है— मानवता का अधिकार, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक अधिकार आदि। स्त्रियों को इनमें से कितने अधिकार प्राप्त थे, इस सन्दर्भ में सर्वप्रथम हम स्त्रियों के राजनैतिक अधिकारों पर विचार करें। ऋग्वैदिक काल में चार प्रकार की राजनैतिक परिषदों का उल्लेख मिलता है, सभा, समिति, विदध एवं गण। इस काल की स्त्रियों को 'सभा' तथा 'विदध' में भाग लेने का अधिकार प्राप्त था यह स्त्रियों के राजनैतिक सशक्तिकरण का द्योतक माना जाता है।

सम्पत्ति के अधिकार के क्षेत्र में दृष्टि डालें तो आज स्त्रियों के लिए सम्पत्ति के अधिकार क्षेत्र में जो नियम बन रहे हैं, वह

वर्तमान कालिक नहीं है, बल्कि इसकी नींव वैदिक काल में डाली जा चुकी थी। दाय भाग का प्रयोग वैदिक काल से ही होता आया है। 'श्रमस्य दाय विभज्यन्तेभ्यः'¹ में दाय का अर्थ भाग या हिस्सा ही है दम्पत्ति (जायाश्च पतिश्च) शब्द का अर्थ यद्यपि द्विवचनान्त अर्थ में पति-पत्नी दोनों हैं, परन्तु पत्नी के लिए अलग सम्पत्ति के अधिकारों के भी दृष्टान्त मिलते हैं। संहिताओं में इसके स्पष्ट उल्लेख देखे जा सकते हैं। 'पुमान् दायदः स्त्री अदायादी'² वेदों की अपेक्षा स्मृति ग्रन्थों में स्त्रियों के कर्तव्यों एवं अधिकारों की बात कही गयी है, स्त्रियों के कर्तव्यों एवं अधिकारों की बात कही गयी है। स्त्रियों को सम्पत्ति के उत्तराधिकारी के रूप में देखा गया है, मनु के अनुसार—

यथैवात्मा तथा पुत्र पुत्रेण दुहिता समा।³
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत् ॥

अर्थात् पुत्र अपनी आत्मा के समान है, तथा पुत्री उस पुत्र के समान होती है। अतः आत्मा समान पुत्री के जीवित रहते हुए मृत पिता के धन को कोई अन्य कैसे ले सकता है ? अविवाहित कन्याओं को अपने पिता की सम्पत्ति का चतुर्थांश प्राप्त करने का अधिकार था। जो भाई अपनी अविवाहिता बहन को सम्पत्ति का चतुर्थांश नहीं देता उसे पतित की संज्ञा दी गई है।⁴ याज्ञवल्क्य ने भी कन्याओं के इस अधिकार का समर्थन करते हुए इस प्रबन्ध को कन्याओं के विवाह में व्यय की पूर्ति के लिए किया गया माना है।⁵ कन्याओं के विषय में सर्वप्रथम कहा है— 'पत्नी दुहितैव पितरो भ्रातरस्था'⁶ पुत्रहीन मृत व्यक्ति की सम्पत्ति पर उसकी पत्नी का अधिकार था।

मनु के द्वारा छह प्रकार के स्त्रीधन का वर्णन किया गया है।⁷ इन धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्रियों के अधिकारों की जितनी बात की गयी है, उससे कई गुणा उनके कर्तव्यों को दुहराया गया है, कर्तव्यों की आड़ में ही विधवाओं को सती होने के लिए

बाध्य किया जाने लगा था— 'भर्ता सह भार्या भर्तारं सा समुरेत' (बृहत्पराशर स्मृति) अर्थात् पत्नी के सती होने में ही समाज में उसका उद्धार माना जाने लगा। सूक्ष्मतया विचार करें तो पितृसत्तात्मक समाज की इस कुरीति के प्रचलित होने के पीछे कुछ मुख्य कारण ये थे कि विधवा को सम्पत्ति सम्बन्धी जो अधिकार प्राप्त थे, वह उसकी मृत्यु के पश्चात् अन्य सम्बन्धियों को मिल जाये तथा दूसरा यह कि विधवा के अनैतिक आचरण से कुल के कलंकित होने का भय न रहे। इसके अतिरिक्त मनु ने 'स्त्री धर्म' कहकर 'स्त्रियों की अधीनता स्पष्ट की है।'⁸

स्वतन्त्रता

स्वतन्त्रता ऐसी चीज है, जो मर्यादा का अतिक्रमण भी कर जाती है, अतः मर्यादित स्वतन्त्रता ही वास्तविक स्वतन्त्रता है।

वैदिक काल में नारियों को सभा समारोहों, उत्सवों में सम्मिलित होने की स्वतन्त्रता थी। ऋग्वेद में कई ऐसे दृष्टान्त प्राप्त होते हैं, जिनसे स्पष्ट है कि युवक-युवती दोनों एक-दूसरे से प्रणय निवेदन कर सकते थे— 'यूने युवतयो नमस्त'⁹ युवशोक कन्यानां¹⁰ परन्तु स्मृति काल तक आते-आते न स्त्री "स्वातंत्र्यमर्हति" जैसे उद्घोष स्त्री स्वच्छंदता पर अंकुश लगाने वाले साबित हुए। 'अस्वतंत्रा धर्मे स्त्री'¹¹, (नारी धर्म कार्य के अधीन) तथा मनु 'न भजेत्स्त्री स्वतंत्रताम्'¹² प्रभृति विद्वानों ने स्त्री को पुरुषों के अधीन कर दिया। इन स्मृतिकारों का मुख्य उद्देश्य स्त्रियों की स्वच्छंदता पर मर्यादा रूप अंकुश लगाना था, परन्तु इस अर्थ का अनर्थ कर पितृसत्तात्मक समाज द्वारा स्त्रियों के पग पर बेड़ियाँ डाल दी गयी। वैदिक काल में पर्दा प्रथा का उल्लेख नहीं मिलता है। बाल्मीकि ने भी सामान्य जन जीवन में स्त्रियों के वैवाहिक समारोह, युद्ध स्वयंवर आदि में जाने को दोषयुक्त नहीं कहा है। यह बाल्मीकि रामायण में स्थल-स्थल पर दृष्ट्य है।

शिक्षा

वैदिक वाङ्मय के अनुशीलन से स्पष्ट होता है कि उस समय स्त्री पुरुष का शिक्षा के क्षेत्र में समान अधिकार था। ऋग्वेद में पुत्र के समान पुत्री को भी शिक्षित करने का उल्लेख है।¹³ अथर्ववेद में 'ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्'¹⁴ कहकर नारी शिक्षा पर जोर डाला गया है। पाणिनि ने भी 'प्रत्युर्नो यज्ञ संयोगे'¹⁵ कहकर स्त्रियों के इस अधिकार की पुष्टि की है। किन्तु स्मृतिकाल के पश्चात् स्त्रियों की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगने से इनकी शिक्षा पर सीधा प्रभाव पड़ा। बाल विवाह आदि के कारण कन्याओं को शिक्षा ग्रहण अधिकार से वंचित होकर घर के दायित्वों की पूर्ति करने को विवश होना पड़ा।

वैवाहिक स्थिति

समाज में सृष्टि चक्र के निर्वहण के लिए विवाह संस्कार विहित है। वैदिक काल में कन्या के विवाह की अवस्था युवावस्था बतायी गई है। वही स्मृति काल में कन्या की वैवाहिक अवस्था प्रायः बारह वर्ष कही गयी है। यह व्यवस्था तत्कालीन वैवाहिक व्यवस्था के अनुकूल बनाई गई मालूम होती है, क्योंकि ब्राह्मण आक्रमणों के कारण से विवाहित स्त्रियों की अपेक्षा अविवाहिता स्त्रियों की अस्मिता खतरे में पड़ने लगी। अतः उन अपहरणों से मुक्ति दिलाने के लिए बाल विवाह का प्रचलन समाज में बढ़ा। इस वैवाहिक स्तर में स्त्रियों की अस्मिता की रक्षा हुई हो या न हुई हो इनकी शिक्षा, स्वतन्त्रता आदि का हास अवश्य हुआ। बाल विवाह में बारह वर्ष की कन्या का तीस वर्ष के युवक के साथ विवाह उक्त है।¹⁶ इस दुर्व्यवस्था से समाज में असामंजस्य, सन्तानहीनता जैसी कई समस्या प्रकट हुई। विवाह की इस व्यवस्था के कारण जिस अवस्था में कन्या को शिक्षा का आश्रय लेकर सबल बनना था वह घर की चाहर दीवारी में पुरुष की आश्रिता बनकर जीवन व्यतीत करने के लिए विवश हुई। पुरुष स्त्री के वय की असंगति से विधवा स्त्रियों की भी संख्या में वृद्धि हुई।

प्रतिष्ठा

'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' की उद्घोषणा में नारी के प्रति सम्मान भासित होता है, स्त्री ईश्वर की सर्वोत्कृष्टतम रचना मानी गई है। यह त्याग, शील, स्नेह वात्सल्य प्रभृति गुणों की स्रोत मानी गई है, नारी शक्ति स्वरूपा है, कहा भी

गया है—

या देवी सर्वभूतेषु शक्तिरूपेण संस्थिता ।¹⁷
नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमस्तस्यै नमो नमः ।।

स्त्री 'गृहिणी' और 'पुरन्धी' (कुल को एक सूत्र में बाँधने वाली) रूप में सम्मानित हुई है, तभी तो पुरुष की यह कामना है।

पत्नी मनोरमा देहि मनोवृत्ता नुसारिणीम् ।¹⁸
तारिणीं दुर्गसंसारसागरस्य कुलोद्भवाम् ।।

स्मृतिकाल तक आते-आते समाज में स्त्रियों के समान में वैदिक काल की अपेक्षा कमी आई। प्रारम्भिक युग में शिक्षा के क्षेत्र में पूर्ण अधिकार होने के कारण वह वैदिक दृष्टिकोण से सबल थी, जिससे समाज में विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ। स्मृतिकाल के बाद नारियों की प्रतिष्ठा की बजाय दूषणयुक्त वाक्य दृष्टिगत होने लगे— 'स्वभाव एष नारीणां नराणामिह दूषणम्'¹⁹ इन दृष्टान्तों पर सूक्ष्मतया विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में इन्हें माता तथा पुत्री के रूप में सम्मान प्राप्त था परन्तु 'तरुणी' रूपा स्त्री के हिस्से में निन्दा आई।

इस प्रकार धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्रियों की विभिन्न क्षेत्रों में स्थिति ज्ञात होती है। इस आधार पर यह स्पष्ट होता है कि वैदिक काल में स्त्री, पुरुष की सहगामिनी सखा रूपा थी वहीं स्मृति काल आते-आते पुरुष की आश्रिता दासी हो गई और दिन प्रतिदिन सभी क्षेत्रों में उसका पतन होता गया।

विचार करें तो पितृसत्तात्मक समाज में मुख्यतया स्त्रियाँ दो रूप में प्रचलित रहीं एक तो मातृ रूपा या पुरन्धी रूपा दूसरी दूसरी भोग्या रूपा जो समाज में अपना सर्वस्व खोने पर भी निन्दित और अपमानित ही होती आई। स्थितियों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में बाल विवाह, अशिक्षा आदि जैसी कुव्यवस्थाएँ स्त्रियों की सबलता को नष्ट करने में मुख्य कारण रही हैं, बाल्यावस्था से ही पुरुष के प्रति पराधीनता के संस्कार उसमें इस तरह से डाल दिये जाते हैं कि अबला की छवि को ही वे अपनी नियति मान लेती हैं। नारी जो वस्तुतः शक्ति की पर्याय है, उसकी शक्ति पर ही जब समाज द्वारा प्रतिबन्ध लगाया जाता है तो इसे समाज द्वारा स्वयं की अवनति का मार्ग प्रशस्त किये जाने का प्रयास कहा जायेगा। चाहे वह रामायण काल हो या महाभारत काल या आधुनिक काल जब-जब स्त्रियों की प्रतिष्ठा को बाधित या अपमानित करने की कोशिश की गई है। तब-तब समाज को उसका दण्ड भुगतना पड़ा है। सीता जोकि नारी शक्ति के प्रतीक रूप में है, रावण द्वारा अपहृत होने पर उसके समूल नारा का कारण बनी। महाभारत काल में कौरवों ने द्रौपदी का भरी सभा में जिस प्रकार अपमान किया फलस्वरूप उन्हें भी समूल नाश का दण्ड भुगतना पड़ा। तात्पर्य यह है कि राष्ट्र के निर्माण एवं विकास में पुरुष, स्त्री दोनों की सहभागिता सम होती है, भारतीय संविधान में स्त्रियों को पुरुषों के समान ही स्वतन्त्रता और अधिकार दिये गये हैं, परन्तु जब तक यह व्यवहारिकता में नहीं आयेंगे, तब तक सर्वांगीण विकास सम्भव नहीं होगा। आज वर्तमान युग में नारी अर्धनारीश्वर की कल्पना के अनुकूल पुरुष के साथ-साथ बहुत हद तक जी रही है, परन्तु सशक्त होते हुए भी वह सुरक्षित नहीं है, इसकी अस्मिता खतरे में क्यों पड़ती जा रही है ? इस प्रश्न के पीछे सबसे बड़ी जिम्मेदारी स्त्रियों के ऊपर ही है। धर्म शास्त्रीय ग्रन्थों में स्त्री तथा पुरुष दोनों में मर्यादा रूप अंकुश लगाने के भाव प्रकट हुए हैं, पुरुष के लिए मातृवत् परदारुण की

उद्घोषणा हुई है, ताकि वह अपनी ही शक्ति का सम्मान कर सके। स्त्रियों का भी यह दायित्व हो जाता है कि वह शिक्षा आदि के अवलम्बन से अपने आप को सशक्त रखे न कि भोग्या रूप में अपनी गरिमा महसूस करें। आज पाश्चात्य संस्कृति के जिस अन्धी दौड़ में पुरुष के साथ स्त्रियाँ भी शामिल हैं, वह विवेक भ्रष्ट होने का ही द्योतक है। भर्तृहरि ने कहा है—

विवेक भ्रष्टानां भवति विनिपात शतमुखः।

अर्थात् विवेक से भ्रष्ट व्यक्ति के लिए अवनति के सैकड़ों रास्ते खुल जाते हैं, अतः भारतीय संस्कृति के अनुरूप स्त्री को मातृस्वरूप में ही गरिमाण्डित होना चाहिए न कि पाश्चात्य संस्कृति के अनुरूप रमणीय रूप में क्योंकि वह भोग की नहीं अपितु योग की साधना है, तभी इसे 'तारिणी दुर्गसंसारसागरस्य' कहा गया है, इसलिए स्त्रियों को पितृसत्तात्मक समाज की रूढ़िवादी नीतियों से अलग हटकर समयोचित सशक्त मातृवत स्वरूप में स्थित होकर मर्यादित स्वतन्त्रता प्राप्त करनी चाहिए तभी राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा हो पायेगी और देश का समुचित विकास सम्भव हो सकेगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. ऋग्वेद – 10/114/10
2. मैत्रेयी संहिता – 4.6.4
3. मनुस्मृति – 9/30
4. मनुस्मृति – 9/118
5. याज्ञवल्क्य – 9/124
6. याज्ञवल्क्य स्मृति – 1/135
7. मनुस्मृति – 9/194
8. मनुस्मृति – 5/147-154
9. ऋग्वेद – 10.30.6
10. ऋग्वेद – 8.35.5
11. गौतम स्मृति – 1/8
12. मनुस्मृति – 5/148
13. ऋग्वेद – 9/68/5
14. अथर्ववेद – 11.3.15-18
15. पाणिनि शिक्षा – 4/1/33
16. मनुस्मृति – 6/64
17. दुर्गा सप्तशती – 5/34
18. दुर्गा सप्तशती – 24
19. मनुस्मृति – 2/21